।। दंसण मूलो धम्मो।।

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

सम्पादक : रामजी माणेकचन्द दोशी वकील

वर्ष पाँचवाँ — कार्तिक
अंक सातवाँ — २४७६

आत्मा को समझन

कई जीव ऐसा मानते हैं कि हम आत्मा को समझ नहीं सकते। ज्ञानी उससे कहते हैं कि हे भाई! प्रत्येक जीव आत्मस्वभाव को समझ सकता है। जिसमें समझने की शक्ति है, उसने यदि नासमझी के कारण भूल की है, तो वह अपनी भूल का निवारण कर सच्ची समझ प्राप्त कर सकता है। जीव स्वयं भूल करता है और सच्ची समझ प्राप्त करके उस भूल का निवारण करनेवाला भी जीव स्वयं ही है। जीव ही भूल करता और जीव ही समझता है। जड़ तो कुछ समझता नहीं। इसलिए मैं समझ नहीं सकता—ऐसी बुद्धि का त्याग करना चाहिए। जिसे आत्मा से प्रेम हो, उसे आत्मस्वभाव को समझने में कोई कठिनाई नहीं होती।

(नियमसार प्रवचन गाथा ३८)

एक अंक
चार आना

५५

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

अनेकान्त मुद्रणालय : मोटा आंकड़िया

अनुक्रमणिका

१- आत्मा को समझना
२- श्री सिद्धभगवान की आत्मकथा
३- सच्चा ब्रह्मचर्य जीवन कौन जी सकता है?
४- निकट भव्य और अभव्य
५- एक समय का ज्ञान होता है?
६- ज्ञान निश्चय से स्व के जानता है और
व्यवहार से पर को जानता है।

चैतन्यतत्त्व का दुर्लभता

अहा! आत्मतत्त्व की सच्ची बात सुनने के लिए मिलना दुर्लभ है। जिस तरह गाँव में गुड़ और अनाज आदि की दुकानें तो कई होती हैं और इन चीजों के खरीददार भी कई होते हैं, परन्तु सच्चे हीरे की दुकान एक–आध ही होती है, और उसका खरीददार भी कोई ही होता है, उसी प्रकार इस चैतन्यतत्त्व की बात भी मँहगी है। पुण्य आदि में धर्म को मानने की बात तो सारे जगत् में प्रचलित है और उस बात को माननेवाले जीव भी बहुत से हैं परन्तु शुद्ध चैतन्यतत्त्व की बात संसार में सर्वत्र नहीं और उसे समझनेवाले भी विरले ही हैं। जिसे अपनी आत्मा का हित करना हो, कल्याण करना हो, अनन्त जन्म-मरण के दुःखों से छूटकर मुक्ति प्राप्त करना हो, उसके लिए इस आत्मस्वभाव को समझने बिना गति नहीं है। अपनी समझ शुद्ध आत्मा को समझकर श्रद्धापूर्वक उसमें स्थिर होना ही मुक्ति का सच्चा उपाय है।

जो आत्मतत्त्व को नहीं समझे हैं–ऐसे अज्ञानी जीवों को समझाने के लिए आचार्यदेव ने प्रयत्न किया है; इसलिए यह माानकर कि 'मेरी तो समझ में नहीं आता'–सत्य का प्रयत्न छोड़ देना उचित नहीं। [निमयसार, गाथा ३८]

कार्तिक
२४७६

आत्मधर्म

वर्ष पाँचवाँ
अंक-७

श्री सिद्ध भगवान की आत्मकथा

[श्री सनातन जैनशिक्षण वर्ग, सोनगढ़ की द्वितीय श्रेणी की परीक्षा के एक प्रश्न का उत्तर]

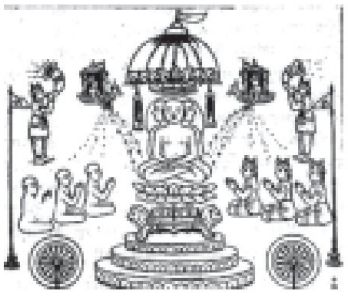

सिद्ध भगवान के आत्मा का विचार करने से उनकी आत्मकथा सम्बन्धी जो प्रेरणा हुई, वह निम्न प्रकार है :–

वह जीव अनादिकाल से निगोददशा में ही अनन्तानन्त दुःख सहता हुआ, उसी में जन्म-मरण करता था। अहो! उसके अपार दुःखों का पूरा ज्ञान तो केवलज्ञानी के अतिरिक्त और किसे हो सकता है? वहाँ निगोदशा में एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं और उनको एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, उसके ज्ञान का क्षयोपशम भी अत्यन्त अल्प होता है। प्रचुर मोहावेश से वे घिरे रहते हैं। एक श्वासोच्छ्वास में अठारह बार जन्म-मरण करते हैं। ऐसे अपार दुःखों को सहन करते हुए उस जीव ने एक बार कुछ मन्द-कषाय परिणामों से मरण करके एक सुप्रसिद्ध सेठ के घर पुत्ररूप में जन्म लिया।

वह सेठ सम्पत्तिशाली थे और उनके हृदय में धर्मभावना भी प्रबल थी, वे वीतराग धर्म के अनन्य भक्त थे। बड़े भारी व्यापार के काम काज में पड़े होने पर भी, सेठ के हृदय में आत्महित की कामना थी। वे प्रतिदिन नियमित देवदर्शन, शास्त्र-स्वाध्याय तथा मुनिराज के चरणकमलों के निकट भक्तिपूर्वक देशना श्रवण करना नहीं चूकते थे; सेठ ने नगर में अनेक जिनमन्दिर बंधाये थे और उनके गृह में भी एक भव्य जिनमन्दिर था। सेठ वास्तव में एक श्रेष्ठ आत्मार्थी जीव थे; सेठ की भाँति उनकी पत्नी और सारा परिवार भी संस्कार और धर्मभावनामय था।

ऐसे सेठ के घर में उस जीव ने पुत्ररूप में जन्म लिया। पुत्र–जन्म का सेठ ने महोत्सव किया, जिनमन्दिर में अनेक प्रकार के विधान-पूजन हुए और अनेक-प्रकार के दान की

घोषणा की, सारे नगर में गरीब लोगों को मिष्टान्न और वस्त्रादि बाँटे गये। सेठ ने पुत्र का नाम 'सिद्धकुमार' रखा।

''सिद्धकुमार'' का बचपन बड़े ही लाड़प्यार में बीतने लगा। सेठ जब जिनमन्दिर में पूजा स्वाध्याय, ध्यान करते, तब बालक सिद्धकुमार, पिता के निकट जाकर बैठ जाता और जिनप्रतिमा के सन्मुख एकटक देखता रहता। सिद्धकुमार की सौम्य सुन्दर मुखाकृति और शान्त प्रकृति देखकर लोग आश्चर्यचकित होते थे। जब सिद्धकुमार पाँच वर्ष का हुआ तो सेठ ने उसके लौकिक और धार्मिक शिक्षण की व्यवस्था की और सिद्धकुमार दिन-प्रतिदिन उसमें आगे बढ़ने लगा।

एकबार एक वीतरागी मुनि आहार लेने शहर में पधारे। सेठ ने मुनिराज की पड़गाहना की। महाभाग्य से सेठ को आहारदान का शुभावसर प्राप्त हुआ। आहार की विधि समाप्त होने के पश्चात् मुनिराज के चरणों का स्पर्श करके सब अपने को कृतार्थ मानने लगे। सिद्धकुमार ने भी मुनिराज के चरण-कमलों में उल्लासपूर्वक साष्टांग प्रणाम किया। मुनिराज ने उसके मस्तक पर हाथ रखकर सेठ से कहा ''यह जीव इसी भव में भगवती जिनदीक्षा धारण करके परमानन्दमय शाश्वत सिद्धदशा को प्राप्त करेगा।''–ऐसा कहकर मुनिराज कहाँ से विहार कर गये। सिद्धकुमार के विषय में यह बात सुनकर सेठ और समस्त कुटुम्बीजनों के हृदय में हर्ष का सागर लहराने लगा, आनन्दमग्न सेठ ने महान उत्सव किया; उस दिन से सब सिद्धकुमार के प्रति अत्यन्त भक्ति प्रेम रखने लगे।

इधर सिद्धकुमार का अभ्यास क्रम भी शीघ्रता से आगे बढ़ने लगा। उसकी बुद्धि का चमत्कार देखकर उसके शिक्षक भी आश्चर्यमग्न हो जाते थे। लगभग तेरह वर्ष की आयु होने तक तो सिद्धकुमार ने लौकिक अभ्यास में गणित, साहित्य, विज्ञान, कविता आदि का अधिकांश अभ्यास कर लिया; और धार्मिक अभ्यास में भी चारों अनुयोगों का अच्छी तरह अभ्यास किया। नवतत्त्व, छह द्रव्य, त्रिलोक की रचना, कर्म का स्वभाव, श्रावक और मुनि के आचरण तथा ऋषभादि त्रेसठ शलाका पुरुषों का चरित्र अभ्यास होने पर सिद्धकुमार को समस्त जगत की व्यवस्था और संसार-मोक्ष का स्वरूप ज्ञात होने लगा। स्वाध्याय तथा वीतरागी मुनियों के समागम से उसने आत्मा के स्वरूप का भी अभ्यास किया। उसके अन्तर में निश्चय हुआ कि अहो! इस अनन्त संसार-सागर में जीव को अनन्त दुःखों का एक मूलकारण स्वरूप–भ्रम–मिथ्यामान्यता ही है। इन अनन्त दुःखों से मुक्त करके मोक्षमार्ग में स्थापित करनेवाला कल्याणमूर्ति एक सम्यग्दर्शन ही है, वही धर्म का मूल है। इस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बिना जीव जो कुछ करता है, वह संसार में परिभ्रमण का ही कारण होता है। ऐसे कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शन के लिए सिद्धकुमार

की जिज्ञासा और आकांक्षा बढ़ने लगी। संसार के सुख-वैभव से उसकी वृत्तियाँ उदासीन होने लगीं। अब वह अधिक समय मुनियों के समागम में रहने लगा। वीतरागी मुनियों का भी उसके प्रति परम अनुग्रह रहता था।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन के लिए तरसते हुए सिद्धकुमार की आयु १६ वर्ष के लगभग हो गई। सामान्यतः युवा पुत्र को देखकर माता-पिता का विचार विवाह करने का होता है; परन्तु संसार के प्रति उसकी तीव्र उदासीनता देखकर सिद्धकुमार के पिता उनके समक्ष व्याह की बात न कह सके। एकबार रात्रि के अन्तिम प्रहर में सिद्धकुमार आत्मा के स्वरूप को चिन्तवन कर रहे थे। अपने अखण्ड ज्ञायकस्वभाव में लीन होने से अन्तरङ्ग ज्ञान–भानु का उदय हुआ, मिथ्यात्व परिणति का नाश हो गया। शरीर, कर्म, और संयोग से भिन्न एवं विकारी तथा अपूर्ण पर्याय से पार त्रिकाल शुद्ध चैतन्य-स्वरूप निजात्मा का अनुभव हुआ। अनादि से जो परिणति परपदार्थ और विकार का आश्रय करती हुई अनन्त क्लेश को पा रही थी, वह अब स्वभाव का आश्रय लेकर क्लेश रहित हुई, और जिसे प्राप्त करने की भावना सिद्धकुमार वर्षों से कर रहा था, वह स्वरूप –निधि प्राप्त होने से सिद्धकुमार को परमानन्द प्राप्त हुआ। उसे त्रिलोक पूज्य सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई, इससे वह अपने को कृतकृत्य समझने लगा।

प्रभात होते ही स्नानादि से निवृत्त होकर सिद्धकुमार जिनमन्दिर में पूजन करने गये। पश्चात् नगर के बाहर विराजमान वीतरागी मुनि श्री जिनेन्द्राचार्य के निकट गये; अपने को हुए स्वानुभव का वर्णन किया तथा हाथ जोड़कर प्रार्थना की – ''प्रभो! अब मेरी परिणति संसार से उदासीन हुई है, मुझे भगवती जिनदीक्षा देकर अपने चरण-कमलों का आश्रय दीजिए।'' ऐसे कहकर सिद्धकुमार ने चारित्रदशा धारण करने की अपनी अन्तरभावना आचार्यदेव के समक्ष व्यक्त की। सिद्धकुमार की इस उच्च भावना की आचार्यदेव ने अनुमोदना की और जिनदीक्षा धारण करने के लिए, कुटुम्बीजनों की अनुमति लेने को कहा। सिद्धकुमार परमभक्ति से नमस्कार करके अपने घर आये।

घर आकर माता-पिता तथा कुटुम्बीजनों से अपनी जिनदीक्षा लेने की अभिलाषा व्यक्त की। यह सुनकर उनके धर्मिष्ठ माता-पिता तथा कुटुम्बीजन हर्ष से अवाक् रह गये। माता-पिता की

आँखों से आनन्द के आँसू बहने लगे। सिद्धकुमार ने उन्हें वैराग्य प्रेरक तत्त्व सुनाया। माता-पिता तथा कुटुम्बीजनों ने सिद्धकुमार को हार्दिक अनुमोदनापूर्वक जिनदीक्षा लेने की अनुमति दी। और दीक्षा का बड़ा उत्सव मनाया। महान् रथयात्रा के रूप में सब गाजे-बाजे सहित श्री जिनेन्द्राचार्य के निकट आये। सिद्धकुमार ने गुरुदेव को नमस्कार करके विधिपूर्वक समस्त परिग्रह का त्याग किया और निर्ग्रन्थ दशा धारण की।

जिनदीक्षा ग्रहण करके मुनिराज सिद्धकुमार अपने आत्मस्वभाव में लीन रहते हुए प्रचण्ड पुरुषार्थ द्वारा मोह शत्रु का चारों ओर से नाश करने लगे। एक बार मध्यरात्रि के समय स्व-स्वरूप में लीन होकर, विद्यमान अल्प मोह भाव का भी नाश करने को उद्यत हुए। क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर मोह शत्रु का सम्पूर्ण नाश किया और लोकालोकप्रकाशक परमज्योति केवलज्ञान को प्रगट किया।

मुनिश्वर सिद्धकुमार को केवलज्ञान होते ही चारों प्रकार के देव उनके केवलज्ञान क महोत्सव करने आये। केवलज्ञानरूपी दिव्यनेत्र के धारक श्री सिद्धकुमार ने ॐ दिव्यध्वनि द्वारा मोक्षमार्ग का उपदेश करके अनेक जीवों के संसार ताप को शान्त किया। इस प्रकार कई वर्ष तक सारे संसार में वस्तु स्वभाव का उपदेश करके अनेक जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति करायी।

अब आयु पूर्ण होने आयी, इससे श्री सिद्धकुमार की देह सम्मेदशिखर पर स्थित हो गयी। तुरन्त योग निरोध करके चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश किया और अल्पकाल में ही देह मुक्त होकर उनका आत्मा एक समय में लोकाग्र में स्थित हुआ और शाश्वत परमानन्दमय तथा केवलज्ञानादि गुणों सहित सर्वोत्कृष्ट सिद्धदशा को प्राप्त हुआ।

सच्चा ब्रह्मचर्य जीवन कौन जी सकता है?

ब्रह्मचारी का अर्थ क्या?

ब्रह्मचारी अर्थात् आत्मा का रंगी और विषयों का त्यागी।

विषयों का त्यागी कौन हो सकता है?

जो विषयों में सुख न मानता हो।

विषयों में सुख कौन नहीं मानता?

जिसे विषयों से रहित आत्मा के सुख का भान और रुचि हो गई हो।

जिस प्रकार एक स्पर्शनेन्द्रिय के विषय में सुख नहीं है, उसी प्रकार पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी किसी भी विषय में आत्मा का सुख नहीं है—ऐसा जानकर जिसे सर्व विषयों में से सुखबुद्धि दूर हो और सर्वविषयों से रहित असंगी आत्मस्वभाव की रुचि हो, वही जीव वास्तवविक ब्रह्मचर्य जीवन जीता है। इसलिए वास्तव में जितना-जितना आत्मिक सुख का अनुभव है, उतने-उतने अंशों में ब्रह्मचर्य जीवन है। अन्य प्रकार से कहा जाये तो ब्रह्मस्वरूप आत्मा में जितने अंश में चर्या (परिणमन) होती है, उतना ही ब्रह्मचर्य जीवन है। और जितनी ब्रह्म में चर्या होती है, उतना पर विषयों का त्याग होता है और बाह्य में भी उस-उस प्रकार के विषयों का संग नहीं होता।

श्री आत्मावलोकन में शील की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'अपने चेतन स्वभाव को शील कहते हैं। अपने स्वभाव की अन्य परभावरूप नारी के प्रति विरक्ति (अर्थात् उसका त्याग) और अपने स्वभाव में स्थिरता—वही शील पालन है।

परन्तु जो जीव पर विषयों से अथवा परभावों से सुख मानता हो, उस जीव के ब्रह्मचर्य जीवन नहीं होता; क्योंकि उसे विषयों के संग की रुचि पड़ी है। फिर भले वह जीव शुभराग द्वारा कदाचित् स्त्री संग या पुरुष संग न करता हो, परन्तु ''अमुक शब्द से या मूर्ति इत्यादि अमुकरूप से अथवा किसी भी विषय से मुझे सुख हो अथवा उसके निमित्त से मुझे ज्ञान हो'' ऐसी जिनकी दृष्टि है, उन्हें पर विषयों की रुचि ही है और इससे उन्हें वास्तविक ब्रह्मचर्य होता ही नहीं।

इससे, तत्त्वज्ञान का और ब्रह्मचर्य का मेल सिद्ध हुआ; क्योंकि जिस जीव को तत्त्वज्ञान होता है, आत्मा की रुचि होती है, वह जीव कभी किसी भी पर विषय में सुख नहीं मानता अर्थात् रुचि में – श्रद्धा में –दृष्टि में तो उसने अपने आत्मस्वभाव का संग करके सर्व पर विषयों का संग छोड़ दिया है, इससे वह जीव रुचि-श्रद्धा से तो ब्रह्मचर्य जीवन ही जी रहा है। और फिर स्वभाव की रुचि के बल से उस स्वभाव में लीनता करने से ज्यों-ज्यों रागादि परिणति टलती जाती है, वैसे ही वैसे उसके निमित्तभूत बाह्य विषय भी स्वयंमेव छूटते जाते हैं, और इस क्रम से आत्मिक

ब्रह्मचर्य जीवन में आगे बढ़ने से वह जीव स्वतः पूर्ण ब्रह्मस्वरूप परमात्मा हो जाता है।

शरीर के स्पर्श में जिसे सुख की मान्यता दूर हो गई हो, वही उससे विरक्त होकर ब्रह्मचर्य जीवन जी सकता है; और जिसे शरीर के स्पर्श-विषय में से सुखबुद्धि दूर हो गई हो, उस जीव को शब्द, रूप, गंध अथवा वर्णादि विषयों में से भी सुखबुद्धि अवश्य दूर हो गई होती है। जिसे वास्तव में एक भी इन्द्रिय में से सुखबुद्धि दूर हो जाये, उसे पाँच इन्द्रियों में से सुखबुद्धि दूर हो जाती है। और पाँच इन्द्रियों के विषयों में से सुखबुद्धि उसी को दूर होती है कि जिसने सत्पुरुष के उपदेश के श्रवणपूर्वक पाँच इन्द्रियों के विषयों से पार अतीन्द्रिय आत्मा का सुख लक्ष्यगत किया हो ओर अन्तर में उसकी रुचि हो – ऐसा ही जीव वास्तव में इन्द्रिय विषयों से विरक्त होकर ब्रह्मचर्य जीवन जी सकता है।

आत्मा के लक्ष्य के बिना स्पर्शेन्द्रिय के विषय को छोड़कर कोई जीव शारीरिक ब्रह्मचर्य तो पाले, परन्तु कड़वाहट में दुःख और लड्डू खाने में आनन्द-सुख माने तो उसने 'रस' के साथ विषय किया है अर्थात् उसका यथार्थ ब्रह्मचर्य जीवन नहीं है, परन्तु विषयी जीवन है।

उसी प्रकार दुर्गन्ध में दुःख और सुगन्ध में सुख माने तो उसने 'दुर्गन्ध' के साथ विषय किया है।

वैसे ही, स्त्री आदि की आकृति के कारण विकार होना माने, और भगवान की मूर्ति आदि के कारण वीतरागता होना माने अथवा उस रूप के कारण ज्ञान का होना माने तो उसने 'रूप (वर्ण)' के साथ विषय किया है। और 'निन्दा आदि के शब्द द्वेष कराते हैं तथा प्रशंसा के शब्द राग करते हैं अथवा देव-गुरु की वाणी से मुझे ज्ञान होता है'– ऐसा जिससे माना है, उसने 'शब्द' के साथ विषय किया है। और ब्रह्मचर्य के नाम से जिसे मान-पोषण की या अन्य किसी वस्तु की रुचि हो, उस जीव ने 'मान' के साथ विषय किया है।

उपरोक्तानुसार जिस जीव की परिणति स्व-घर छोड़कर पर-घर में भटकती है– आत्म विषय को छोड़कर पर विषयों में एकता करती है, वह जीव वास्तव में ब्रह्मचारी नहीं है, परन्तु अब्रह्मचारी है। सम्यग्दर्शन स्वद्रव्य का विषय करनेवाला है; जो स्वद्रव्य का विषय करे, उसी के परद्रव्य के साथ विषय दूर होता है। जो स्वद्रव्य का विषय न करे और परद्रव्य के साथ ही विषय करे, उसके कभी विषय दूर नहीं होता और ब्रह्मचर्य जीवन नहीं होता।

कोई जीव शुभराग के वेग से बाह्यत्यागी-द्रव्यलिंगी तो हो जाये, परन्तु वह ऐसा मानता हो कि–'मुझे निमित्त से लाभ–हानि होते हैं, अथवा जो पुण्य की वृत्ति होती है, वह मुझे धर्म का कारण है, – तो उस जीव ने पर विषयों का और पर भाव का किंचित् भी संग नहीं छोड़ा है और

उसको किंचित् आत्मिक ब्रह्मचर्य प्रगट नहीं हुआ है। पुण्य-भाव तो पर विषयों के लक्ष्य से ही होते हैं, उस पुण्य को जिसने धर्म माना, उससे वास्तव में यही माना है कि पर विषयों में सुख है, इससे उसके अन्तर में पर विषयों का संग छोड़ने की रुचि नहीं है, परन्तु पर विषयों का संग करने की रुचि है। पर विषयों का संग करने की जो रुचि, वह अब्रह्मचर्य ही है।'

पर विषयों से मुझे कुछ भी होता है– ऐसा जो मानता है, वह जीव उन पदार्थों की अनुकूलता में सुख माने बिना नहीं रहता। जो जीव ऐसा मानता है कि देव-गुरु-शास्त्र से आत्मा को लाभ होता है,उसे देव-गुरु-शास्त्र के विषय को छोड़ने की रुचि नहीं है, किन्तु उनका विषय करने की रुचि है। जिस प्रकार स्त्री आदि में सुखबुद्धि, सो विषय है; उसी प्रकार देव-गुरु-शास्त्र भी पर विषय हैं, उनमें सुखबुद्धि, सो विषय ही है – एक अशुभ है और दूसरा शुभ है, इतना ही अन्तर है। परन्तु हैं तो दोनों विषय ही; एक अब्रह्म के ही वे दो प्रकार हैं।

मेरे असंग चैतन्यतत्त्व को किसी परद्रव्य का संग किंचित् भी नहीं है। परद्रव्य के संग से मुझमें सुख नहीं है, परन्तु परद्रव्य के संग बिना ही मेरे स्वभाव से मेरा सुख है। इस प्रकार जिस जीव ने अपने अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव की रुचि और लक्ष्य किया है, तथा सर्व इन्द्रिय विषयों की रुचि छोड़ी है, वह भव्य जीव यथार्थ आत्मजीवन – ब्रह्मजीवन जीता है। ऐसा सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा भगवान के समान है – ऐसा ज्ञानी कहते हैं। यह शरीर तो काष्ठ की पुतली के समान जड़ है और चैतन्यमूर्ति आत्मा उससे पृथक् है– ऐसा जाने, अर्थात् शरीर और आत्मा का भेदज्ञान करे, उसे भगवान समान कहा जाता है। दूसरों का सुन्दर शरीर देखने के कारण से उसे किंचित् विकार नहीं होता। इससे उसमें आत्मा के लक्ष्य से ही ब्रह्मचर्य पालन करने का आया। इसके सिवाय शरीर के लक्ष्य से शुभभावरूप ब्रह्मचर्य रखे और विषय की इच्छा न करे, वह पुण्यबन्ध का कारण है, परन्तु मात्र ऐसा शुभभावरूप ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले को भगवान समान नहीं कहा है।

इस प्रकार वास्तव में, आत्मस्वभाव की रुचि कै साथ ही ब्रह्मचर्यादि सर्व गुणों के बीज पड़े हैं, और जैसे-जैसे उस रुचि का विकास होता जाता है, वैसे ही वैसे आत्मिक ब्रह्मचर्य, अहिंसादि गुण भी विकसित होते जाते हैं, इसलिए सच्चा ब्रह्मचर्य, अहिंसादि गुण भी विकसित होते-जाते हैं। इसलिए सच्चा ब्रह्मचर्य जीवन जीने के अभिलाषी जीवों को प्रथम कर्तव्य यह है कि – सर्व परविषयों से रहित और अतीन्द्रियसुख से परिपूर्ण – ऐसे अपने आत्मस्वभाव की रुचि करना, उसका लक्ष्य करना और उसका अनुभव करके उसमें तन्मय होने का प्रयत्न करना।

इस प्रकार से ब्रह्मचर्य जीवन जीनेवाला ''परमब्रह्म'' हो जाता है।

निकट भव्य और अभव्य

[श्री प्रवचनसार, गाथा ६२ पर पूज्य श्री कानजीस्वामी के व्याख्यानों का सार]

सुख का साधनभूत परिपूर्ण ज्ञान ही है – ऐसा बतलाकर, अब ऐसी श्रद्धा कराते हैं कि केवलियों को ही पारमार्थिक सुख होता है :–

णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु, परम ति पिगदघादीणं
सुणि दूण ते अभव्या भव्वा वा त पडिच्छन्ति॥६२॥

[गुजराती हरीगीत]

सुणो 'घातिकर्मविहीननुं, सुख सौ सुखे उत्कृष्ट छे',
श्रद्धे न तेह अभव्य छे, ने भव्य ते संमत करे॥६२॥

अर्थ :– जिसके घातिकर्म नष्ट हो गये हैं, उनका सुख, सर्व सुखों में परम अर्थात् उत्कृष्ट है – ऐसा वचन सुनकर जो उसकी श्रद्धा नहीं करते, वे अभव्य हैं और भव्य उसका स्वीकार (आदर, श्रद्धा) करता है।

केवली भगवन्तों के सम्पूर्ण ज्ञान होता है, इससे उनके ही पारमार्थिक सुख होता है। अज्ञानी को तो सुख होता ही नहीं और ज्ञानी धर्मात्मा मुनि को भी पूर्ण पारमार्थिक सुख नहीं होता, क्योंकि सुख का साधनरूप पूर्णज्ञान उनके नहीं है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि –भगवान केवलज्ञानियों के ही परिपूर्ण सुख है – ऐसा हम अल्पकाल में भगवान होनेवाले कहते हैं; उसे सुनकर प्रसन्न होकर यदि स्वीकार कर तो तू निकट भव्य है, और यदि तू हमारे समक्ष इन्कार कर तो तू अभव्य है; तुझे मोक्ष सुख की रुचि नहीं है। हम अल्पकाल में सिद्ध होनेवाले हैं, और हमारे समक्ष ही हमारा विरोध करनेवाले अभव्य हैं। इसमें स्वतः को श्रद्धा की विशेष-विशेष शुद्धता का बल है। हम परिपूर्ण आत्मस्वभाव का वर्णन करते हैं और उस समय तू स्वभाव का अस्वीकार करता है तो तू अपात्र है –अभव्य है। कदाचित् हम तीर्थंकर-केवली हुए तो ऐसा अस्वीकार करनेवाला जीव हमारे समवसरण में नहीं होता – ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

केवलज्ञानी जीवों के सम्पूर्ण सुख होता है और वह सुख समस्त सुखों में उत्कृष्ट है। लौकिक सुख तो सच्चा-सुख है ही नहीं, परन्तु गणधर-मुनिवरों को जो सच्चा सुख होता है, वह अल्प है, उसकी अपेक्षा केवलज्ञानियों का सुख परम उत्कृष्ट है – ऐसी बात सुनकर जो उसका स्वीकार करता है, वह तो निकट भव्य है, और जो अस्वीकार करता है, वह अभव्य है। भले ही

वह जीव कदाचित् त्रिकाल अभव्य न हो परन्तु वर्तमाान में तो वह अभव्य है ही। यहाँ कहा कि –'सुनकर' अस्वीकार करता है, वह अभव्य है – अर्थात् जहाँ तक तेरे सुनने में ऐसा न आया कि ''इन्द्रिय विषयों में सुख नहीं है, परन्तु अतीन्द्रिय केवलज्ञानी ही सम्पूर्ण सुखी है'' वहाँ तक तो तूने केवली भगवान के सुख की श्रद्धा नहीं की, परन्तु अब यह बात सुनने पर भी यदि तू श्रद्धा न करे तो तू अभव्य है। और यह सुनते ही 'केवलज्ञान ही पारमार्थिक सुख है, इन्द्रिय सुख है, वह सुख नहीं है' इस प्रकार रुचिपूर्वक उसकी श्रद्धा करता है, वह जीव निकट भव्य है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है। ज्ञान परिपूर्ण परिणमित हो, वही पूर्ण सुख है। जिनके पूर्ण ज्ञान-स्वभाव प्रगट हो गया है, उनके किंचित् भी स्वभाव-प्रतिघात न होने से आकुलता का अभाव है और इससे उनके किंचित् दुःख नहीं होता। इसलिए केवलज्ञानी भगवान स्वभाव से ही सुखी हैं, इससे उनके आहारादि नहीं होते। जिसे आत्मा के ज्ञानस्वभाव की खबर नहीं है, वह अज्ञानी जीव विकार भावों में और इन्द्रिय-विषयों में सुख मान रहा है, परन्तु उसमें तो ज्ञानस्वभाव का हनन होने से दुःख ही है। अज्ञानी जीव ज्ञानरूप परिणमित नहीं होता परन्तु मोहरूप परिणमित होता है, वह मोहजाल में उलझा हुआ है, स्वतः अपने ज्ञानस्वभाव को भूलकर अज्ञानरूप हुआ है, इससे उसकी पर्याय में स्वभाव का घात है और आकुलता है, इससे वह जीव दुःखी ही है – उसे किंचित्मात्र पारमार्थिक सुख नहीं है।

जितना ज्ञानस्वभाव का परिणमन, उतना ही सच्चा सुख है। ज्ञान के अतिरिक्त पुण्यभाव में, इन्द्रपद में, पैसे में, स्त्री में, राजपद में कहीं भी सुख नहीं है, मात्र सुखाभास है– सुख की कल्पना मात्र है। जब, पुण्य में अथवा उसके फल में भी सुख नहीं है, तब पाप में तो सुख होगा ही कहाँ सो? पुण्य में सुख नहीं है, परन्तु अज्ञानी को सुखाभास होता है। ऐसा होने पर भी पुण्य और उसके फलरूप इन्द्रिय विषयों में सुख कहने को अपारमर्थिक रूढ़ि है – मिथ्या रूढ़ि है। राजा-महाराजाओं को अथवा देवों को बाह्य पुण्य-फल के कारण सुखी कहने की जो रूढ़ि है, वह मिथ्या है, अर्थात् उन्हें सुखी कहा जाता है, परन्तु उनके पारमार्थिक सुख नहीं है। उन्हें पूर्णज्ञान न होने से वे भी दुःखी हैं, तथापि सुखी कहने की मिथ्या रूढ़ि है।

इन्द्रिय विषयों में सुख कहने की जो यह मिथ्यारूढ़ि है, उससे विपरीत देखें तो, महामुनि धर्मात्मा-आत्मस्वरूप की लीनता में स्थित हों और बाह्य में परिषह आये– सिंह आकर शरीर को खाये जा रहा हो – उससे मुनि दुःखी हैं – ऐसा कहना, सो अपारमार्थिक रूढ़ि है, क्योंकि वास्तव में मुनि को दुख नहीं है, किन्तु वे तो अन्तर स्वभाव की लीनता से अनाकुल आनन्दरूप

सुख को ही भोगते हैं। इससे यहाँ ऐसा बताया है कि इन्द्रिय-विषयों की अनुकूलता में सुख नहीं है, परन्तु ज्ञानस्वरूप परिणमित होना, सो सुख है।

'भगवान को अनेक प्रकार के परिषह आये और भारी कष्ट सहना पड़ा, अथवा मुनि-सन्त भारी दुःखों का सेवन करते हैं'– ऐसा कहना, सो वह सब कथन अपरमार्थ है; यथार्थ नहीं है। बाह्य के प्रतिकूल संयोगों को देखकर जीव को दुःखी कहना और अनुकूल संयोग देखकर उसे सुखी कहना बिल्कुल मिथ्या है। यहाँ आचार्यदेव समझाते हैं कि जैसे केवली भगवान स्वतः ही सम्पूर्ण ज्ञानमय हो गये हैं, इससे वे सम्पूर्ण सुखी हैं, वैसे ही सभी जीवों को अपना ज्ञानस्वभाव ही सुख का कारण है; विषयों का–संयोगों का सुख किसी जीव को नहीं है। प्रतिकूल संयोगों का मुनि को दुःख नहीं है, मुनि तो अपने स्वभाव के सहज आनन्दरस में मग्न हैं, वे संयोग के ओर की आकुलता का अनुभव नहीं करते परन्तु चैतन्यमूर्ति स्वरूप में परिणमित होकर जो अनाकुल आनन्द का स्रोत बहता है, उसका सन्त-मुनि अनुभव करते हैं। धर्म दुःखदायक नहीं किन्तु सुखदायी है, वर्तमान में वह सुखरूप है और उसके फल में पूर्णानन्ददशा प्रगट होती है। यह सुनकर जो जीव ऐसा समझ जाता है कि सच्चा सुख आत्मा के ज्ञानस्वभाव में है; इन्द्रियाधीन ज्ञान में अथवा बाह्य विषयों में आत्मा का सुख नहीं है; उसके इन्द्रिय विषयों में सुखबुद्धि दूर हो जाती है और ज्ञानस्वभाव की रुचि होती है, वह जीव निकट भव्य है– ऐसा श्री आचार्यदेव कहते हैं।

घानी में पिलकर मुनियों का चकनाचूर हो गया और अपार दुःख सहा – ऐसा रूढ़ि से कहा जाता है, परन्तु वैसा वस्तुस्वरूप नहीं है। आत्मा तो चैतन्यस्वरूप अरूपी है; फिर घानी में कौन पिलता है? शरीर का चूरा हो गया तो उसमें आत्म को क्या? जिस प्रकार नारियल में से गोला पृथक् हो जाता है, उसी प्रकार धर्मात्मा मुनि तो देह से पृथक् चैतन्य पिण्ड के सहजानन्द का अनुभव कर रहे हैं, घानी के संयोग का किंचित् दुःख उनके नहीं है।

आत्मा का स्वभाव सम्पूर्ण ज्ञाता-दृष्टा है। ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को किंचित् भी पर का कर्ता माने अथवा विकाररूप माने तो ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का अभाव होता है और आकुलता की उत्पत्ति होती है – वही दुःख है। मैं तो ज्ञाता-दृष्टा ही हूँ, राग का अंश भी मेरा नहीं है, मैं किसी पर का कर्ता नहीं हूँ –ऐसा अपने स्वभाव का भान करके, राग-द्वेष रहित होकर ज्ञान में ज्ञान स्थिर हुआ कि वहाँ ज्ञानस्वभाव प्रगट हुआ। जितने अंश में राग से पृथक् होकर ज्ञान, ज्ञानस्वभाव में परिणमित होता है, उतने अंश में स्वभाव का घात नहीं होता, इससे अनाकुलता की उत्पत्ति है,

और वही सुख है। केवली भगवान को परिपूर्ण ज्ञानमय परिणमन है और स्वभाव का प्रतिघात किंचित् नहीं है, इससे वे केवलज्ञान द्वारा परिपूर्ण सुखी हैं।

भगवान को समवसरण के कारण सुख नहीं है, सुन्दर शरीर के कारण सुख नहीं है, इन्द्र पूजते हैं, उसका भी सुख नहीं है, परन्तु स्वभाव-प्रतिघात का अभाव है अर्थात् ज्ञान परिपूर्ण परिणमित होता है, इससे उन्हें पारमार्थिक सुख है। उस सुख का लक्षण अनाकुलता है, अनुकूल संयोग कहीं सुख का लक्षण नहीं है और प्रतिकूल संयोग दुःख का लक्षण नहीं हैं, परन्तु अनाकुलता, सुख का लक्षण है और आकुलता, दुःख का लक्षण है; ज्ञानस्वभाव सुखमय है। ज्ञानस्वभावरूप परिणमन, सो सुख है, और ज्ञान परिणमन में जितनी अपूर्णता हो, उतना सुख अपूर्ण है। बहुत सम्पत्ति हो तो सुखी—ऐसा नहीं है, पैसे के और की आकुलता, वह दुःख ही है।

केवली भगवान सम्पूर्ण ज्ञानरूप ही हो गये हैं; इससे उनके ज्ञानस्वभाव का घात नहीं है और आकुलता भी किंचित् नहीं है, ऐसा सहर्ष मानने योग्य है। परन्तु भगवान को रोग हुआ और दवा करायी तथा खुराक ली, ऐसा कभी मानने योग्य नहीं है। भगवान को केवलज्ञान का परिपूर्ण सुख है, वे स्वतः परमानन्दरूप हो गये हैं, उनके रोग नहीं है, दवा नहीं, अशन नहीं है – ऐसा बराबर मानने योग्य है।

अब श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव सत् की जोशदार घोषणा करते हैं :– भगवान को स्वभाव से ही परमार्थिक सुख का अनुभव है – ऐसा श्रद्धान जो नहीं करते हैं, वे मोक्षरूपी सुधापान से दूरवर्ती अभव्य हैं। केवली भगवान तो आत्मा के मोक्षरूपी अनाकुल पूर्ण सुख का सुधापान कर रहे हैं; वैसा भगवान का स्वरूप जो नहीं मानते, अर्थात् आत्मा को अपने स्वभाव से ही सुख है – ऐसा जो नहीं मानते, वे जीव स्वतः मोक्ष सुख का सुधापान प्राप्त नहीं करेंगे, अर्थात् वे मोक्ष सुख से सदैव दूर रहनेवाले अभव्य हैं। उन्हें आत्मा के स्वाधीन सुख की श्रद्धा नहीं है और विषयों से सुख प्राप्त करना चाहते हैं; इससे वे जीव मृगतृष्णा की भाँति आकुलता का ही अनुभव करते हैं। जिस प्रकार मृग, जलरहित भूमि में जल की कल्पना करके उस ओर दौड़ता है और आकुल-व्याकुल होकर दुःखानुभव ही करता है, वैसे ही अज्ञानी अभव्यजीव श्री भगवान के पारमार्थिक अतीन्द्रियसुख को स्वीकार नहीं करते और पर-विषयों में से आत्मा को सुख प्राप्त होता है– ऐसा मानकर विषयों में लीन होते हैं; वे सदैव आकुलतामय दुःख को ही भोगते रहते हैं; विषयों से पार आत्मा के अनाकुल सुख का उनको स्पर्श भी नहीं है। और जो जीव, भगवान के अतीन्द्रियसुख का तुरन्त ही स्वीकार करते हैं, उन जीवों को विषयों में से सुखबुद्धि टल जाती है

और उनका ज्ञान विषयों से हटकर अपने अतीन्द्रियस्वभाव में परिणमित होता है, आत्मा के परमार्थिकसुख का वे अंशतः अनुभव करते हैं और वे निकट भव्य है। स्वभाव का स्वीकार करनेवाले निकट भव्य और अस्वीकार करनेवाले अभव्य- इस प्रकार आचार्यदेव ने दो भाग कर दिये हैं।

अहो! केवलज्ञानदशा में, किसी भी अन्य पदार्थ की अपेक्षा के बिना आत्मा स्वतः ही पूर्ण सुखी है, वहाँ किंचित् भी आकुलता का सद्भाव नहीं है, आत्मा ही पूर्ण आनन्द और ज्ञानस्वरूप हो गया है। मेरा आत्मा भी ज्ञानानन्दस्वभाववाला है, मेरे आत्मा को ज्ञान और आनन्द के लिए किन्हीं पदार्थों की अपेक्षा नहीं है। जिस प्रकार केवली भगवान मात्र ज्ञानरूप ही परिणमित होते हैं, रागरूप परिणमित नहीं होते; वैसे ही मेरा स्वभाव भी उसी प्रकार का है, केवली जितना ही मेरा ज्ञानस्वभाव है, जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, उनरूप मैं परिणमित नहीं होता, परन्तु ज्ञानस्वभावरूप ही परिणमित होता हूँ। इस प्रकार केवली भगवान के पारमार्थिकसुख की प्रतीति करने से अपने आत्मस्वभाव की प्रतीति भी आ जाती है; इसलिए वह जीव वर्तमान में ही मोक्ष लक्ष्मी का भाजन हो गया है। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि, परिपूर्ण ज्ञानस्वभावरूप रहनेवाले केवली भगवन्तों को परिपूर्ण सुख है– ऐसा वचन सुनकर जो तत्काल उसका स्वीकार करते हैं, वे मोक्ष लक्ष्मी के भाजन निकट भव्य हैं। और इसे सुनकर जो जीव सीधा इन्कार करते हैं, वे अभव्य हैं। स्वभाव के सुख का बात सुनते ही जिसके अन्तर में जम जाती है और उत्साह से स्वीकार करता है, वह निकट भव्य है।

स्वीकार करनेवाले के अन्तर में कितना उत्तरदायित्व है? 'आत्मा की केवलज्ञान दशा में ही परमार्थिकसुख है'– इतना यथार्थ स्वीकार किया, उस जीव को स्वभावसुख को आदर हुआ और पाँच इन्द्रियों के विषयों में सुख की मान्यता हट गई। शरीर में सुख नहीं है, संयोग में सुख नहीं है, शुभभाव में भी सुख नहीं है, इन सबसे पृथक मात्र आत्मस्वभाव में ही सुख है – ऐसा आत्मस्वभाव का ही स्वीकार हो गया, इससे वह जीव निकट मोक्षगामी है।

'जो इस वचन का तत्काल स्वीकार करते हैं, वे निकट भव्य हैं'– ऐसा कहकर यहाँ उपादान-निमित्त की संधि बतायी है। आचार्य भगवान कहते हैं कि हम स्वतः अल्पकाल में मोक्ष जानेवाले हैं, जो हमारे वचनों को अर्थात् वचनों में जो भाव कहने का आशय है, उस भाव को समझकर उसी समय उसका स्वीकार करते हैं, वे जीव भी शिवश्री के (मोक्ष लक्ष्मी के) पात्र हैं। हम निकट मोक्षगामी निमित्तरूप हैं, और हमारे निमित्त से जिस जीव ने स्वभाव का सत्कार किया, उस जीव का उपादान भी अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करने की योग्यतावाला है।

हे जीव! एक ही भव में मोक्ष प्राप्त करनेवाले धर्मात्मा की सत् का समर्थन करती हुई वाणी को निमित्तरूप से सुनकर यदि तुझे तत्काल उल्लासपूर्वक अन्तर से 'हाँ' आयी तो निमित्त और उपादान के भाव में एकता हुई अर्थात् जिस प्रकार निमित्तरूप वाणी सुनानेवाले अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करनेवाला हैं; उसीप्रकार उसकी 'हाँ' करनेवाला तू भी मोक्ष प्राप्ति के लिए ही चला आ रहा है; और तुझे निकट मुक्तिगामी जीव की वाणी निमित्तरूप प्राप्त हुई है और इस परम सत्वाणी का यदि तू अस्वीकार करे तो तू निकट निगोदगामी है। हम जोर-शोर से कहते हैं कि केवली भगवान को पारमार्थिकसुख है, उन्हें किंचित् खेद या आकुलता नहीं है– इस बात की तुझे यदि निःशंकता हो गई तो तू भी निकट मुक्तिगामी है, परन्तु यदि उसमें किंचित् शंका पड़ी तो तू दूर भव्य है।

श्री कुन्दकुन्द भगवान, भव्य जीवों को मोक्ष के लिए आमंत्रण देते हैं; हमारे आँगन में मोक्षदशा की रसोई तैयार हो गई है, हम तुझसे जो कह रहे हैं, उसका स्वीकार कर, तो तू मोक्षदशा की थाली पर बैठा है, थाली पर बैठने के पश्चात् मोक्षदशा का भोजन आते देर नहीं लगेगी। अरे! आ तो सही! हाँ तो कह! आत्मा के स्वभावसुख का स्वीकार तो कर! अहो! आत्मा के स्वभाव सुख का कौन अस्वीकार करता है? अभव्य जीव हो वह 'ना' कहता है। आसन्न भव्य जीव तो उल्लास से स्वीकार करता है।

श्री कुन्दकुन्द भगवान ने निकट मुक्तिगामी भव्य और अभव्य ऐसे दो ही भाग किये हैं, वर्तमान में 'हाँ' कहता है, वह निकट मुक्तिगामी भव्य है और वर्तमान में 'ना' कहता है, वह अभव्य है। इस समय 'ना' कहता है कि किन्तु भविष्य में 'हाँ' कहेगा– ऐसे जीव को अभव्य से भिन्न स्वीकार नहीं किया है। हम साक्षात् कह रहे हैं, तब –तू हमारे समक्ष ही 'ना' कहता है, तो हमारे समक्ष तो तू अभव्य ही है, भविष्य में 'हाँ' कहेगा, उसका स्वीकार हम इस समय नहीं करते हैं। टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने तीन भाग किये हैं। केवली भगवान को एकान्त सुख है– ऐसा सुनकर जो तत्काल 'हाँ' कहकर उसे स्वीकार करता है, वह आसन्न भव्य है, जो भविष्य में उसका स्वीकार करेंगे, वे दूर भव्य हैं, और जो कभी भी स्वीकार नहीं करते, वे अभव्य हैं।

आत्मा की स्वाभाविक ज्ञानदशा में सुख है, और ज्ञान बाह्य विषयों में भटके, वह दुःख है। इन्द्रिय के किसी भी विषय में सुख है ही नहीं। पुण्य के फल में सुख मानने की अज्ञानी की रीति है, परन्तु उसमें दुःख ही है। ज्ञान में पर को जानने की या भोगने की वृत्ति हो, वह दुःख है, किन्तु विषयों में ही एकताबुद्धि होने से अज्ञानी को वह दुःख प्रतिभासित नहीं होता। ज्ञान, ज्ञानरूप स्थिर

न रहकर चंचल होकर विषयों की ओर झुकता है–वह दुःख है। जिस प्रकार सदैव पानी में रहनेवाली मछली यदि किनारे पर रेती में आ गिरे तो उसे दुःख होता है, तब फिर जीवित मछली को अग्नि में गिरने पर कितना दुःख होगा? उसी प्रकार इस आत्मा का स्वभाव अनाकुल, परमामृतमय शांत ज्ञानस्वरूप में रहने का है, उसमें से हटकर शुभभाव में आना भी दुःखदायक है और अशुभभावों में तो अंगारों जैसा दुःख है। अज्ञानी जीव को विषय रहित चैतन्यस्वभाव का सुख भासित नहीं होता, इससे विषयों के ओर की शुभाशुभ वृत्तियों में उसे दुःख भासित नहीं होता। धर्मी जीव को शुभाशुभ दोनों में दुःख भासित होता है। शुभ होता है, वह भी ज्ञानस्वरूप के बाहर निकलकर होता है, उसमें भी आकुलता ही है। केवली भगवान की भाँति सम्पूर्ण ज्ञानमय परिणमित होना ही सुख है। शुभाशुभराग होने पर भी जिसे ऐसी श्रद्धा है,वह जीव आसन्न भव्य है।

मछली की रुचि पानी में है, उसे पानी का ही परिचय है, इससे पानी के बाहर निकलने से उसे दुःख होता है; वैसे ही ज्ञानी-धर्मात्मा जीवों की रुचि निराकुल ज्ञानस्वरूप में ही है। ज्ञानस्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी भी भाव के परिचय में उन्हें दुःख लगता है। ज्ञानस्वरूप में से बाहर आकर शुभराग होता है, उसमें आकुलता है – सुख नहीं है। जितना शुभराग होता है, उतना ज्ञान का परिणमन रुकता है – स्वभाव का घात होता है, वह दुःख का कारण है। जो अशुभभाव होता है, उसमें बहुत दुःख है। परन्तु ज्ञानी धर्मात्मा जीवों को अपने चैतन्यस्वरूप का और विकार का भेदज्ञान है, चैतन्यभावरूप ही परिणमित होने की उनकी भावना है, इससे परमार्थ से वे रागरूप परिणमित नहीं होते, परन्तु ज्ञानरूप ही परिणमित होते हैं। जितना ज्ञानरूप परिणमन है, उतना ही सच्चा सुख है और ज्ञान परिणमन में जितनी कचास है, उतना परमार्थिक सुख का अभाव है। जिस प्रकार मछली को बाहर निकालो तो कूदकर फिर से पानी में गिरती है, उसी प्रकार धर्मात्मा, शुभ–अशुभ का निषेध करके ज्ञानस्वरूप में ही परिणमित होते हैं। बाह्य विषयों से पीछे हटकर स्वरूप में ही झुकाते हैं, पुनः-पुनः स्वरूप में ही एकाग्रता का अभ्यास करते हैं। अज्ञानी जीव तो विषयों में सुख मानकर उन्हीं में लीन रहते हैं; क्षण-क्षण में ज्ञान को नये-नये विषयों में घुमाते हैं और उससे आकुलता का ही वेदन करते हैं। ज्ञानस्वरूप में परिणमनवाले केवली भगवान एकान्त सुखी हैं और ज्ञान को भूलकर बाह्य पदार्थों में सुख की कल्पना करके परिणमित होनेवाले अज्ञानी जीव एकान्त दुःखी हैं।

केवलज्ञानी प्रभु, शुभ-अशुभ से हटकर और समस्त बाह्य विषयों से हटकर अपने शान्त

शीतल स्वभाव में ही डूब गये हैं, वे स्वरूप से बाहर बिलकुल नहीं निकलते, वे सम्पूर्ण सुखी हैं; ऐसा ही परमार्थिकसुख मुझे उपादेय है– ऐसा साधक ज्ञानी जानते है।

अहो! जिस भाव से तीर्थंकरनामकर्म बंधता है, वह भाव भी आकुलतामय दुःखदायी है। मेरे स्वरूप का घात हुआ तो शुभभावना उत्पन्न हुई। अरे रे! पूरा ज्ञान परिणमन नहीं, वीतरागता नहीं, पुरुषार्थ की दुर्बलता के कारण शुभभावना हो जाती है, और वह मुझे दुखदायी है। अकेले ज्ञानपन से पूरा-पूरा परिणमन होते ही पूर्ण पारमार्थिकसुख होता है। इस तरह ज्ञानी की स्वरूप के प्रति ही रुचि है और शुभ में हेयबुद्धि है। जिसे शुभभाव की लगन हो और उसी में सुख ज्ञात होता हो, वह जीव, केवली भगवान के पारमार्थिकसुख को स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि केवली भगवान का स्वरूप तो शुभभाव से रहित है। स्वरूप के बाहर निकलकर शुभभाव में रहना पड़े तो ज्ञानी छटपटाने लगता है, स्वरूप की पूर्णता के लिए तड़पता है।

जिस तरह पानी का ज्वार आता है और उतर जाता है और उसम में कुछ मछलियाँ किनारे की मिट्टी में रह जाती हैं और तड़पती हैं कि पानी! पानी! पानी से विलग होकर मिट्टी में रहना उनके लिए दुःखदाई है। उसी तरह चैतन्यस्वरूप की शुद्धता के अनुभव का ज्वार आकर उतर जाये और शुभ-अशुभभाव तथा इन्द्रिय विषयों में फँसकर रहना पड़े तो ज्ञानीजन शुद्ध स्वभाव के अनुभव के लिए व्यग्र हो उठते हैं। अरे! कहाँ मेरे चैतन्यमय परिणमन का निराकुल आनन्द और कहाँ यह आकुलता? मेरा निराकुल आत्म–आनन्द ही सुखदायी है और यह राग तो दुःखदायी है। अज्ञानी जीव तो विषयों की ओर के रस को सुख ही मानता है, विषयों का अपेक्षारहित ज्ञान स्वभाव का सुख वह स्वीकार नहीं करता– यहीं श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा वह जीव अभव्य है।

अज्ञानी जीव यह भूल जाते हैं कि सुख आत्मा में है और अच्छा भोजन, वस्त्र, पैसा, स्त्री आदि में सुख मानते हैं; परन्तु सच्चा सुख उनमें नहीं; उनकी ओर के लक्ष्य में तो दुःख ही है। केवली भगवान भोजन, वस्त्र, पैसा आदि से रहित स्वयं ही ज्ञानस्वरूप में एकाग्र सुखी हैं, परमार्थी सुख उन्हीं को है। उनका पूरा-पूरा सम्पूर्ण ज्ञानमय परिणमन हो जाने से एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय पर उपयोग घूमता नहीं। ज्ञान जैसा का वैसा एकरूप और निश्चल रहता हुआ सब को जानता है, इससे उन्हें आकुलता नहीं होती। ऐसे परमार्थ सुखमय ज्ञानस्वभाव को जो जीव अन्तर से स्वीकार करता है, वह निकट भव्य है।

इसे कब स्वीकृत किया कहा जायेगा कि केवली भगवान को अपनी आत्मा से ही

पारमार्थिकसुख है? प्रथम तो यह कि जिस प्रकार भगवान किसी भी परपदार्थ के बिना ही सुखी हैं, उसी प्रकार मेरी आत्मा को भी सुख के लिए किसी परद्रव्य की अपेक्षा नहीं। भगवान जिस प्रकार शुभाशुभभाव के बिना भी सुखी हैं, उसी तरह यदि मेरी आत्मा में शुभाशुभभाव उदित हों तो वह मेरा स्वरूप नहीं, मेरे लिए आदरणीय नहीं। भगवान के पुण्य-पापभाव होते ही नहीं, अकेला ज्ञान ही होता है, इसीलिए वे सुखी हैं, मुझे तो पुण्य-पापभाव होते हैं, उनसे मेरा ज्ञान भिन्न है, पुण्य-पापभाव मेरी आत्मा के सुख का कारण नहीं, इसलिए वे हेयरूप हैं। इस प्रकार शुभाशुभभाव रहित अकेले ज्ञानपन की ही परिणमता होने से केवली भगवान पारमार्थिक सुखी हैं; उसी प्रकार मैं भी अकेला ज्ञानस्वभावरूप हूँ, दूसरे भाव मेरा स्वरूप नहीं, अकेले ज्ञानस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान और उसमें रमणता, वही मेरे पारमार्थिकसुख का कारण है – इस प्रकार जो प्रसन्न मन से अभी ही स्वीकार करते हैं, वे थोड़े समय में मुक्ति पानेवाले आसन्नभव्य हैं। लेकिन जो अभी तत्काल ही स्वीकार नहीं करते और अनन्तकाल तक भटकने के बाद स्वीकार करेंगे, वे जीव दुरभव्य है। जो कभी स्वीकार करते ही नहीं उनकी तो बात ही क्या की जाये?

'केवली प्रभु को रागरहित परमार्थ सुख है' इसे जो आत्मा वर्तमान से ही मान लेता है, उसका परिणमन वर्तमान में ही अपने रागरहित स्वभाव को स्वीकार करता है। जिसने केवली भगवान के पारमार्थिकसुख को माना, उसने सचमुच तो यह स्वीकार किया है कि मेरी आत्मा का सुख विषयों में नहीं, राग में नहीं, अधूरे परिणमन में नहीं, परन्तु पूर्ण स्वभाव में है। उसकी परिणति स्वीकार करती है कि राग मैं नहीं, मैं तो शुद्ध ज्ञान हूँ। इसलिए जिसका परिणमन राग से और पर से हटकर अपने चैतन्यस्वभाव की ओर मुड़ा, वह वर्तमान सम्यग्दृष्टि है और अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करनेवाला है। जो जीव आगत पर ऐसी श्रद्धा करेगा, वह दुरभव्य है। यहाँ तो वर्तमान में धर्मात्मा सन्त के मुँह से सुनते ही तत्काल प्रसन्न होकर मान ले– ऐसे निकटभव्य जीव की ही बाता कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कही है। वर्तमान में साक्षात् श्रवण करके भी जो नहीं मानता उस जीव की बात ही नहीं कही गई है।

कोई जीव चैतन्यस्वभाव की बात सुनकर यों कहे कि यह बात अच्छी है लेकिन मैं बाद में समझूँगा, अभी नहीं–तो उस जीव की बात झूठी है। वास्तव में उसने चैतन्य के पारमार्थिकसुख को माना नहीं। यदि चैतन्य के पारमार्थिकसुख की बात उसे अच्छी लगी हो तो उत्साह से अभी ही उसे स्वीकार करना चाहिए। उसके लिए एक क्षणभर की भी देर नहीं होनी चाहिए। बात अच्छी है, लेकिन अभी उसे मानना नहीं है – ऐसा जो कहे, उसकी बात गलत है, उसे चैतन्य के सुख

की अपेक्षा दूसरा कुछ अच्छा लगता है, इसलिए वह चैतन्य से श्रद्धा करने के लिए समय माँगता है। यदि केवली भगवान की आत्मा के पारमार्थिकसुख के प्रति सचमुच में रुचि पैदा हुई है, तो वर्तमान में ही उत्साहपूर्वक उसके लिए अभिलाषा होती है कि अभी वैसे पूर्ण पारमार्थिकसुख की प्राप्ति करूँ। लेकिन तुझे आत्मा के पारमार्थिकसुख की रुचि ही नहीं, इसलिए मन में से नकार उठता है। तुझे तो विषयों में सुखबुद्धि हैं।

श्री आचार्य भगवान एक ही भव में मुक्ति प्राप्त करनेवाले हैं, इसलिए उग्र पुरुषार्थ से केवलज्ञानी के पारमार्थिकसुख का प्रतिपादन करते हैं। जो जीव यह सुनकर आनन्द से 'हाँ' कहता है, वह आसन्न भव्य है; उसे आत्मा का केवलज्ञान-स्वभाव रुचिकर लगा है, वह भी अल्पकाल में पूर्ण रागरहित होकर सुखी होगा। जिस प्रकार छह बैलों को एक साथ चक्कर में फिराने पर पहले दो बैल छोटा चक्कर, बाद के दो बड़ा चक्कर और अन्त के दो सबसे बड़ा चक्कर लगाते हैं, परन्तु चक्कर उन सभी को लगाना पड़ता है और वे सब घूमकर चक्कर पूरा करते हैं, उसी प्रकार जो जीव आत्मा के पारमार्थिक स्वभाव की श्रद्धा और रुचि करते हैं, वे सभी जीव संसारचक्र को पूरा करनेवाले हैं। कुन्दकुन्द भगवान, ज्ञान और सुखस्वरूप चैतन्यस्वभाव की बात करते हैं और उसी को 'हाँ' कहकर जो मानते हैं, वे सभी जीव मुक्ति को प्राप्त होनेवाले हैं, कोई कुन्दकुन्द भगवान की तरह एक भव में, कोई दो भव में और कोई तीन भव में। स्वभाव का आदर करनेवाले सभी जीव निकट भव्य हैं। 'हाँ' कहनेवाले जीवों के साथ रखकर निमित्त–उपादान को साथ ही रखा है।

एक समय का ज्ञान होता है?

[रात्रि चर्चा में से]

छद्मस्थ जीव को ज्ञान का उपयोग असंख्यात समय का है, और राग की परिणति प्रत्येक समय की है। असंख्य समय का उपयोग, एक समय की परिणति को नहीं पकड़ सकता।

(२) एक समय की पर्याय को पकड़ने जाने से, वह समय तो नहीं पकड़ाता, परन्तु पर्याय को धारण करनेवाले त्रिकाली द्रव्य की प्रतीति होती है और उस द्रव्य के आश्रय से केवलज्ञान होने पर वह प्रत्येक समय की पर्याय को भी जानता है।

(३) छद्मस्थ जीव को ज्ञान उपयोग में एक समय की परिणति ही पकड़ में नहीं आती, तो फिर परवस्तु का ग्रहण-त्याग तो कहाँ रहा?

(४) श्रद्धा की परिणति एक समय में सम्पूर्ण द्रव्य को स्वीकार करती है। परन्तु उस श्रद्धा की परिणति असंख्य समय ज्ञान के उपयोग में आती है। श्रद्धा ने जिसे विषय किया है, उस द्रव्य स्वभाव के आश्रय से ज्ञान के उपयोग में आती है। श्रद्धा ने जिसे विषय किया है, उस द्रव्यस्वभाव के आश्रय से ज्ञान का उपयोग सूक्ष्म होते-होते ऐसा हो जाता है कि वह एक समय को पकड़ता है—केवलज्ञान होता है। और तब प्रतीति (श्रद्धा) की निर्मलता के अविभाग प्रतिच्छेद भी बढ़ जाते हैं और उसे परमावगाढ़ श्रद्धा कहा जाता है।

(५) 'आत्मा' शब्द में एक 'आ' अनन्त पुद्गल का स्कन्ध है। 'आ' ऐसा बोला जाता है कि उसमें असंख्य समय चला जाता है, और उस पुद्गल स्कन्ध की असंख्य पर्यायें पलट जाती हैं। जीव उन पर्यायों को तो जानता भी नहीं है, तो वह शब्दों को किस प्रकार परिणमित करेगा? उसी प्रकार हाथ चलता है, तो वहाँ पुद्गल के अनन्त गुण एक साथ परिणमित हो रहे हैं, और प्रत्येक समय में उनका परिणमन होता है, उन गुणों को या उनके प्रत्येक समय के परिणमन को जीव जान नहीं सकता तो उन्हें चलायेगा किस प्रकार? एक समय की अवस्था को जानने के लिए ज्ञान को लंबाने से वह ज्ञान त्रिकाली द्रव्य-गुण में अभेद होता है और द्रव्य की प्रतीति होती है, और उस द्रव्य के आश्रय से ज्ञान सूक्ष्म होने पर केवलज्ञान होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण स्व-पर प्रकाशक स्वभाव विकसित हो जाने से ज्ञान के सामर्थ्य में स्व-पर सब कुछ एक साथ एक समय में हो जाता है— ऐसा ज्ञान का स्वभाव है। पर को जानने के लिए ज्ञान को परलक्ष्य नहीं करना पड़ता।

(६) क्रियावतीशक्ति के परिणमन में भी तारतम्यता होती है। जिस प्रकार क्षायोपशमिक ज्ञान का अमुक विकास और अमुक आवरण होता है, तथा आँख इत्यादि स्थान में रहते हुए अमुक प्रदेश में से ही उसका उपयोग होता है, इस प्रकार आत्मा के अनेक गुणों में विचित्रता है। वैसे ही आत्मा की क्रियावतीशक्ति में भी विचित्रता है। आत्मा की क्रियावतीशक्ति अनादि–अनन्त है, उसकी पर्याय में अमुक प्रदेश चलते हैं और अमुक स्थिर रहते हैं – ऐसी विचित्रता होती है। जैसे कि किसी समय हाथ चलता हो, तब उस हाथ के क्षेत्र के आत्म प्रदेश चलते हैं और बाकी के आत्मप्रदेश उसी समय स्थिर होते हैं – ऐसा क्रियावतीशक्ति की पर्याय की तारतम्यता का स्वभाव है।

जीव के अनन्त गुणों का परिणमन प्रति समय होता रहता है। एक समय की पर्याय में चारित्रगुण रागरूप परिणमित हुआ, उसी समय श्रद्धा-ज्ञानादि गुण भी परिणमित होते हैं। परन्तु छद्मस्थ का ज्ञान एक समय को ख्याल में नहीं ले सकता। उसके ज्ञान का उपयोग इतना स्थूल है कि उस प्रकार का विकार असंख्य समय तक लम्बाकर जब उसका स्थूलरूप हो, तब असंख्य समय के स्थूल उपयोग द्वारा ज्ञान उसे जानता है। वहाँ राग की परिणति तो प्रत्येक समय में परिणमित होती है, और राग के साथ के ज्ञान का परिणमन तो प्रत्येक समय होता है, परन्तु उस ज्ञान का उपयोग असंख्य समय का है।

उस ज्ञान में एक समय परिणति कब ज्ञात होती है? वह राग के लक्ष्य से ज्ञात नहीं होती, परन्तु राग और अपूर्णता रहित त्रिकाल परिपूर्ण अपना स्वरूप है, उस स्वरूप का विश्वास करके और उसमें अभेद होकर जब श्रद्धापर्याय परिणमित तो तब 'प्रत्येक समय का परिणमन स्वतन्त्र है, और उस प्रत्येक समय को जानने की ज्ञान की शक्ति है– ऐसा विश्वास प्रगट होता है, तथापि ज्ञान जहाँ तक पूर्ण अभेद होकर परिणमन न करे, वहाँ तक वह ज्ञान प्रत्येक समय को नहीं जान सकेगा। श्रद्धा ने जिस परिपूर्ण स्वभाव का प्रतीति की, उस स्वभाव में ही अभेद होकर परिणमित होने से ज्ञान का उपयोग क्रमशः सूक्ष्म होने लगा और स्वभाव में पूर्ण लीन होनेपर प्रत्येक समय को जाने इतना सूक्ष्म ज्ञान (केवलज्ञान) होता है। पहले, स्वभाव में अभेद होने पर एक समय को जानने की प्रतीति हुई और पश्चात् स्वभाव के ही आश्रय से ज्ञान की निर्मलता होते होते, एक समय को जाने – ऐसी शक्ति प्रगट हुई। इस प्रकार प्रत्येक समय को जानने के लिए स्वभाव का आश्रय करना ही आया।'

पहले पर की ओर का रागवाला जो उपयोग असंख्य समय तक लंबाने से स्थूल पर्याय को

ही पकड़ सकता था; वह उपयोग, स्वभाव में उन्मुख होकर उसमें अभेद हुआ, वहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय की अभेदता होने से एक-एक समय की पर्याय को सर्व प्रकार से जाने – ऐसा परिपूर्ण ज्ञान सामर्थ्य प्रगट हुआ।

इसमें दो बातें की हैं–(१) प्रत्येक समय की प्रतीति कब होती है और (२) प्रत्येक समय का पर्याय का ज्ञान कब होता है? (१) प्रथम यदि वर्तमान प्रतीति त्रैकालिक द्रव्य में अभेद हो तो प्रत्येक समय की पर्याय की तारतम्यता की प्रतीति होती है। ऐसी प्रतीति होने से सम्यग्ज्ञान हुआ, तथापि साधक का ज्ञान एकसमय को नहीं पकड़ सकता। (२) एक समय की ज्ञान कब पकड़ सकता है? श्रद्धा ने जिस स्वभाव की प्रतीति की है, उस स्वभाव में ज्ञान जब परिपूर्ण लीन होता है, तब उस स्वभाव के आश्रय से एक समय को पकड़ें – वैसा ज्ञान सामर्थ्य प्रगट होता है अर्थात् केवलज्ञान प्रगट होता है। इससे, एक समय की पर्याय को पकड़ना कहने से पर्याय के सम्मुख लक्ष्य करना नहीं रहता; किन्तु त्रिकाली द्रव्य-गुण में ही अभेद होना आता है। पर्याय के लक्ष्य से एक समय पकड़ में नहीं आता; इसलिए एक समय को पकड़ना कहने से तो द्रव्य-गुण-पर्याय का अभेदत्व करना ही आता है।

जिस प्रकार एक समय के लक्ष्य से एक समय का ज्ञान नहीं होता, वैसे ही एक समय की पर्याय के लक्ष्य से एक समय की प्रतीति नहीं होती; परन्तु त्रिकाली स्वभाव में प्रतीति पर्याय अभेद हो, तब प्रत्येक समय की स्वतन्त्रता की प्रतीति होती है। त्रिकाली स्वभाव की प्रतीति बिना एक समय की सच्ची प्रतीति नहीं होत। इस प्रकार एक समय की पर्याय की स्वतन्त्रता स्वीकार करने में भी प्रतीति का त्रिकाली द्रव्य में ही अभेद होना आता है, और एक समय का ज्ञान करने में भी त्रिकाली द्रव्य में ही उपयोग का अभेदत्व आता है।

जीव द्रव्य है, उसमें अनन्त गुण हैं, उन सब गुणों का प्रति समय परिणमन होता है, अर्थात् प्रत्येक समय में अनन्त पर्यायें होती हैं। और वस्त्रादि जड़ पदार्थों में भी अनन्त गुण हैं, उनकी पर्याय प्रति समय बदलती है। उस प्रत्येक समय की पर्याय को छद्मस्थ जीव नहीं जान सकता। मैं यह वस्त्र ग्रहण करूँ अथवा यह वस्त्र छोड़ दूँ – ऐसा विकल्प जीव को हुआ, वहाँ चारित्रगुण प्रत्येक समय में परिणमित हो रहा है और ज्ञानगुण भी प्रत्येक समय परिणमित हो रहा है; तथापि उस विकल्प को ज्ञान एकसमय में नहीं जान सकता। परन्तु चारित्र की ऐसी की ऐसी विकारी-पर्याय असंख्य समय तक लम्बाई, तब ज्ञान के स्थूल उपयोग में उसका ख्याल आया। वास्तव में

विकल्प अर्थात् राग तो एक समय की पर्याय में ही है; असंख्य समय की पर्यायों का राग एकत्रित नहीं होता। अपनी एक-एक समय की पर्याय को भी छद्मस्थ जीव नहीं पकड़ सकता तो फिर वस्त्रादि परद्रव्य की पर्याय को ग्रहण करे या छोड़े—यह बात कहाँ रही? और फिर, जिस प्रकार स्वतः में प्रत्येक समय की राग पर्याय को नहीं पकड़ सकता, उसी प्रकार पुद्गल में भी प्रति समय होनेवाली पर्याय को वह नहीं जान सकता। ''मैं वस्त्र को ग्रहण करूँ अथवा छोड़ूँ''— ऐसा विकल्प हुआ, वहाँ तो वस्त्र के अनन्त गुणों की असंख्य पर्यायें बदल चुकी हैं, उन्हें जीव जान भी नहीं सकता, तो फिर वह वस्त्र का ग्रहण या त्याग कैसे करेगा? पर का ग्रहण और त्याग करने की मान्यता तो अज्ञान और भ्रम है।

जिस प्रकार पर की प्रत्येक समय की पर्याय को अथवा स्वतः में होनेवाले राग की पर्याय को जीव नहीं पकड़ सकता, उसी प्रकार प्रत्येक समय की निर्मलदशा को भी छद्मस्थ जीव पकड़-जान नहीं सकता। सम्यक्श्रद्धा से अखण्ड द्रव्यस्वभाव की प्रतीति की, वहाँ श्रद्धा का कार्य तो एक समय का ही है, उसकी पर्याय प्रति समय बदलती है; उस एक समय की अपनी पर्याय को भी छद्मस्थ जीव का ज्ञान नहीं पकड़ सकता। प्रत्येक समय की पर्यायें को ज्ञान कब जान सकता है? पर के लक्ष्य से, विकार के लक्ष्य से अथवा पर्याय के लक्ष्य से एक समय को नहीं जान सकता, परन्तु अपने परिपूर्ण अखण्डस्वभाव के आश्रय का ग्रहण करके, वहाँ लीन होने से परिपूर्ण केवलज्ञान प्रगट हो जाता है अर्थात् ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव पूर्णरूप से विकसित हो जाता है। वहाँ अभेदरूप से अपने स्वभाव का प्रकाशन होने से सर्व परपदार्थों का ज्ञान भी एक समय में हो जाता है।

जो ज्ञान मात्र स्वभाव ग्रहण करके उसमें अभेद हुआ, उस ज्ञान में समस्त स्व-पर पदार्थों का एक समय में ग्रहण (ज्ञान) होता है। इस प्रकार वास्तव में ज्ञान में अभेदस्वभाव का ही ग्रहण आता है और वहाँ राग का त्याग हो जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य का ग्रहण-त्याग आत्मा में नहीं है। अज्ञानी जीव भ्रम से पर का ग्रहण-त्याग मानता है, परन्तु वह जीव भी पर का ग्रहण या त्याग नहीं कर सकता; क्योंकि वह तो पर की पर्याय को जान भी नहीं सकता, तो फिर उसका ग्रहण या त्याग कहाँ से करेगा? और ज्ञानस्वभाव में स्थिर होने से प्रत्येक समय को जाने, वैसा सामर्थ्य प्रगट हुआ, परन्तु वहाँ तो पर के त्याग और ग्रहण का विकल्प भी नहीं होता अर्थात् उसके भी पर का ग्रहण या त्याग नहीं होता। इस प्रकार विकार से या स्वभाव से आत्मा के परवस्तु का ग्रहण-त्याग नहीं है।

छद्मस्थ के उपयोग में श्रद्धागुण की पर्याय असंख्य समय में ख्याल में आती है, परन्तु वह श्रद्धागुण की पर्याय अखण्डस्वभाव की प्रतीतिरूप कार्य तो प्रत्येक समय में ही करती है। श्रद्धा कहीं असंख्यात समय में कार्य नहीं करती। उस एक समय की श्रद्धा-पर्याय को पकड़ने से ज्ञान उपयोग में असंख्यात समय लगता है। वहाँ उस ज्ञान के साथ की श्रद्धा-पर्याय भी अविभाग प्रतिच्छेदों की अपेक्षा से हीन है। और जब वह ज्ञान-उपयोग स्वद्रव्य स्वभाव में लीन होने से सूक्ष्म होकर केवलज्ञान होता है, तब उस ज्ञान के साथ श्रद्धापर्याय के अविभाग प्रतिच्छेद भी बढ़ जाते हैं और तब उसे परमावगाढ़ सम्यकत्व कहा जाता है। इस प्रकार अभेदस्वभाव के आश्रय से जहाँ ज्ञान एक समय को पकड़े– ऐसा सूक्ष्म हुआ, वहाँ श्रद्धा भी उग्र होकर परमावगाढ़ हो गई। यद्यपि ज्ञान जब एक समय को नहीं जानता था, तब भी प्रतीति तो एक समय में ही कार्य करती थी, परन्तु उस समय उसकी निर्मलता के सामर्थ्य-अंश कम थे और केवलज्ञान होने पर उसका सामर्थ्य बढ़ा, उससे वह परमावगाढ़ श्रद्धा कहलाई।

पर के ऊपर लक्ष्य करने से ज्ञान एक समय को नहीं पकड़ सकता और राग दूर नहीं होता। ज्ञान जहाँ यथार्थरूप से एक समय को लक्ष्य में लेने जाये, वहाँ उसका उपयोग सूक्ष्म होकर त्रिकाली स्वरूप में अभेद होता है। पहले तो ज्ञान अभेदस्वभाव की ओर उन्मुख होने से राग दूर हो जाता है और केवलज्ञान प्रगट होता है; वह ज्ञान एक समय को भी जान लेता है। इस प्रकार एक समय की पर्याय को जानने के लिए भी ज्ञान को अपने स्वभाव में अभेद करना ही उपाय सिद्ध हुआ। ज्ञान अपने स्वभाव में अभेद होने पर उसमें एक समय में सब सहजरूप से ज्ञात हो जाता है। पर को जानने के लिए उस ओर उपयोग नहीं लगाना पड़ता।

आत्मा में अनन्त गुण हैं, उसमें एक क्रियावतीशक्ति भी है। जिस प्रकार ज्ञानादि गुणों के परिणमन में तारतम्यता है, उसी प्रकार इस क्रियावतीशक्ति के परिणमन में भी तारतम्यता होती है। जिस प्रकार ज्ञानादि गुण द्रव्य प्रमाण असंख्य प्रदेशी हैं, उसी प्रकार क्रियावतीशक्ति भी असंख्यप्रदेशी है। जिस प्रकार क्षयोपशम ज्ञानदशा में कुछ विकास और कुछ विकास का अभाव–ऐसा तारतम्य है तथा वह क्षयोपशम ज्ञानदशा द्रव्यप्रमाण होने पर भी अमुक नियत प्रदेश से अमुक विषय को ही जानती है – ऐसी उसमें तारम्यता है; उसी प्रकार क्रियावतीशक्ति की पर्याय भी द्रव्यप्रमाण होने पर भी, उसमें अमुक प्रदेश में क्षेत्रान्तर होता है और अमुक प्रदेश में नहीं होता – ऐसी तारतम्यता है।

ज्ञान निश्चय से स्व को जानता है और व्यवहार से पर को जानता है।

ज्ञान निश्चय से तो अपने स्वभाव की ओर उन्मुख होकर स्व को ही जाननेवाला है, और पर को जाननेवाला तो व्यवहार से है। पर को जाननेवाला व्यवहार से है– ऐसा कहा, उससे यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिए कि परद्रव्य का ज्ञान, आत्मा को होता ही नहीं है। आत्मा का ज्ञान पर को जानता तो है ही, परन्तु पर के सन्मुख होकर पर को नहीं जानता; अपने स्वभावसन्मुख रहते परवस्तुएँ सहज ही ज्ञात हो जाती है, वहाँ 'ज्ञान पर को जानता है'– ऐसा कहने से पर की अपेक्षा आती है, इसलिए उसे व्यवहार कहा है; पर से पृथक् रहकर पर को जानता है, इसलिए व्यवहार है। स्व का ज्ञाता, सो निश्चय है। इससे जिस प्रकार स्व के ज्ञान बिना पर का ज्ञान नहीं होता, वैसे ही निश्चय के बिना व्यवहार नहीं होता – यह बात भी इसमें आ जाती है।

स्वाश्रयी मेंढक और पराश्रयी द्रव्यलिंगी

ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है, और उसकी पर्याय यदि पर की ओर उन्मुख होकर ही जाने तो भगवान उसे अचेतन कहते हैं, क्योंकि वह ज्ञान, स्वभाव की रुचि से प्रगट नहीं हुआ है, परन्तु पर की रुचि से राग की मन्दता होकर प्रगट हुआ है। एक मेंढक का आत्मा भी चैतन्य की पर्याय को स्वोन्मुख करके एकाग्र करे तो उसके ज्ञान को चेतन कहा है; वह धर्मी है, उसके आत्मा में प्रतिक्षण धर्म हेता है। और कोई दिगम्बर जैन द्रव्यलिंगी साधु होकर 28 मूलगुण–पंचमहाव्रत यथार्थतया पाले, नवतत्त्वों की व्यवहारश्रद्धा करे तथा ग्यारह अंगों तक का ज्ञान हो जाये, जैन दर्शन में कही हुई सम्पूर्ण व्यवहार की रीति करे परन्तु अपने स्वावलम्बी चैतन्यस्वभाव में लक्ष्य न करे तो उसका सब ज्ञान और चारित्र मिथ्या है। भगवान उसके ज्ञान को अचेतन कहते हैं; वह चाहे जितना करे परन्तु उसे धर्म नहीं होता, प्रतिक्षण अधर्म होता है। इसलिए बाह्य में छोटे-बड़े शरीर के साथ या अन्तर में ज्ञान के क्षयोपशम के साथ धर्म का सम्बन्ध नहीं है, परन्तु अपने ज्ञान में स्वाश्रय या पराश्रय करता है–उसके साथ धर्म-अधर्म का सम्बन्ध है। यदि स्वाश्रय करे तो मेंढक का आत्मा भी धर्म प्राप्त करता है और यदि स्वाश्रय न करे तो द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि साधु भी धर्म प्राप्त नहीं कर पाता।

– भेदविज्ञानसार

अवश्य पढ़िये!

पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा भगवत् श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत ग्रन्थों पर,
एवं अन्य अध्यात्मग्रन्थों पर किये गये विस्तृत विवेचन :-

समयसार-प्रवचन (प्रथम भाग)

निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा, पृष्ठ ४८८, पक्की जिल्द मूल्य छह रुपये, डाकव्यय दस आने अतिरिक्त।

मुक्ति का मार्ग

अरिहन्तदेव का स्वरूप और सर्वज्ञसिद्धि पर युक्तिपूर्ण विवेचन ग्रन्थ। मूल्य दस आने, डाकव्यय माफ।

मूल में भूल

उपादान-निमित्त संवाद को लेकर अद्भुत विवेचनपूर्ण ग्रन्थ। मूल्य बारह आने, डाकव्यय माफ।

आत्मधर्म की फाइलें

प्रथम वर्ष-पृष्ठ १८८, प्रवचन २००। द्वितीय वर्ष पृष्ठ २१६, प्रवचन १०८। तृतीय वर्ष पृष्ठ २५०, प्रवचन १२५। प्रत्येक वर्ष की सजिल्द फाइल का मूल्य पौने चार रुपये।

आत्मधर्म (मासिकपत्र)

अध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व संग्रह जो आपके हाथ में है। वार्षिक मूल्य तीन रुपये।

—: मिलने का पता :—

१- श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

२- अनेकान्त मुद्रणालय,
मोटा आंकड़िया (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचन्द रवाणी, शिष्टसाहित्य मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र
प्रकाशक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी, अनेकान्त मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र